दलित समाज, नारी और सशक्तीकरण

डॉ0 शोभा कुमारी
ति. मां. भा. वि. वि., भागलपुर
Email: shashi.gsba@gmail.com

सारांश

एक बहुत ही उलझी हुई अवधारण दलित है। इसके जाने कितने आयाम है। इसके स्त्रोत के पृथक्–पृथक् माध्यम है। प्रत्येक विद्वान 'दलित' शब्द को इतिहास के पन्नों में ढूंढने को प्रयास करता है। समाज के विकास के विभिन्न चरणों में वर्ण और जाति उभर कर आते हैं। कहीं इसके अर्थ को धर्म से जुड़े 'वर्ण' से जोड़ा जाता है, कहीं इसे सभ्यता और संस्कृति के विकास में आर्य और अनार्थ से नत्थी किया जाता है। कभी कबीलाई संस्कृति में इसे ढूंढने का प्रयत्न किया जाता है। कभी आर्थक–सामाजिक ढांचे में वे व्यक्ति, जो निम्नतम निर्धन वर्ग के रूप में रहें है, जिनके पास न तो सम्पत्ति थी न शक्ति, न घर था और न समझ। इस निहायत शोषित समाज के लोगों को दलित की संज्ञा दी गई।

Reference to this paper should be made as follows:

Received: 26.07.2020
Approved: 27.09.2020

डॉ0 शोभा कुमारी

दलित समाज, नारी और सशक्तीकरण

RJPP 2020,
Vol. XVIII, No. II,
pp.156-159
Article No. 18

Online available at *:*
https://anubooks.com/?page_id=6391

प्रस्तावना

वास्तव में 'दलित' शब्द चलन में आते–आते अनेक वर्ष लग गए। समयानुसार कभी 'हरिजन' कहा गया तो कभी अस्पृश्य जाति, कभी दास, कभी अनार्य, कभी दुर्बल वर्ग और वर्त्तमान समय तक आते – आते सरकारी रूप में इसे अनुसूचित जातियां नाम दिया गया। हालांकि कुछ पिछड़ी या अनुसूचित जातियों के लोग 'दलित' शब्द का विरोध करते हैं। उनका कहना है कि 'दलित' शब्द अपमानजनक है साथ ही यह व्यक्ति में हीनता की भावना को उत्पन्न करता है। क्योंकि इस शब्द का उपयोग शोषित, निर्धन, कुचले हुए लोगों के लिए किया जाता है। हालांकि डॉ. अम्बेडकर ने इसे अस्पृश्य जाति के संबंध में ही प्रयुक्त किया है। वास्तव में इतिहास की तह में गए बगैर 'दलित' शब्द के चलन को समझना कठिन है, क्योंकि किसी अवधारणा के पीछे एक इतिहास छिपा होता है। 'दलित' शब्द की विकास की यात्रा में भी एक – जाति या वर्ण के विकास का इतिहास समाहित है, क्योंकि धर्म, संस्कृति और आर्थिक – सामाजिक प्रगति से नए शब्द नए अर्थो में जन्मते हैं। ''अछूत जातियों या अस्पृश्य जातियों में एक बहुत ही पीड़ाजनक यात्रा की है, यह कट्टर हिन्दुओं की देन है। यद्यपि आज सरकार ने 'अनुसूचित जाति नाम देकर भारत गणतंत्र के एक समान नागरिक का दर्जा दिया फिर भी उन्हें वास्तविक सम्मान की प्रतिक्षा है।''[1]

वास्तव में दलित आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था का प्रतीक है, जिसमें व्यक्ति–व्यक्ति का शोषण करता है। मानव अधिकारों का हनन करता है। शोषित वर्ग का प्रतीक है–दलित। दलित वे लोग नहीं हैं, जिन्होंने एक ही देश के व्यक्तियों और नारियों को समाज में निम्नतम पायदान पर बैठा दिया है। माँ की कोख से न तो पुरूष छोटे रूप में जन्म लेता है और न नारी ही है। यह तो समाज है, जो व्यक्तियों को पृथक–पृथक श्रेणियों में अपने स्वार्थ के लिहाज से बांटता आया है। दलित नारी की स्थिति तो और दयनीय है। वह तो सदियों से परिवार में भी प्रेम, सम्मान, स्नेह, आदर आदि की भूखी है और बाहर तो उसे पशु तुल्य ही समझा जाता है। घर की चारदीवारी में कैद एक नारी का मां, बेटी, बहन, पत्नी, भाभी, ताई, मौसी, बुआ और न जाने कितने विश्लेषण उसके नाम के साथ जुड़े है, पर वह है तो दलित ही। कठोर श्रम करके भी उसे दो वक्त भोजन जुटाना कठिन होता है। यह निर्धनता ही दलित नारी के लिए अभिशाप है और समाज के लिए कलंक।

''डॉ. अम्बेडकर ने दलित जाति में विद्रोह के साथ स्वाभिमान एवं अधिकारों का अहसास जगाया। शिक्षा और सफाई का सन्देश देकर अपनी स्वतंत्र अस्मिता बनाए रखने की चेतावनी दी। इस सबका परिणाम था कि समानता पर आधारित मानवोन्मुखी दलित क्रांति की प्रक्रिया शुरू हुई। हिन्दू धर्म का त्याग और बौद्ध धर्म का स्वीकार ..... एक ऐसा परिवर्तनोन्मुखी सांस्कृतिक कदम था, जिसका तात्कालिक प्रयोजन वर्ण विरोध और अन्तिम लक्ष्य मानव मुक्ति था। इसलिए डॉ. अम्बेडकर प्रगति समाज व्यवस्था की अवधारण में समता, बन्धुता, न्याय और स्वतंत्रता की व्यापक मूल्य चेतना निहित थी।''[2]

डॉ. अम्बेडकर ने अपने वर्ग के लोगों को वर्ण व्यवस्था के विरूद्ध खड़ा किया, अस्पृश्य अथवा दलित वर्ग के लोगों नारी हो अथवा पुरूष भविष्य में वर्ण अथवा जाति के आधार पर शोषण न किया जाए उनके साथ अमानवीय व्यवहार न किया जाए ताकि बीसवीं सदी के पूर्वाद्ध में आन्द्रे बैतेयी न अपने 'अतियथार्थवाद' के दूसरे घोषणा पत्र में कहा था, ''जिस किसी ने एक बार में नहीं सोचा तो भीड़ में उसका स्थान निश्चित है, तब तोप का मुंह उसके पेट के सामने होगा।''[3]

दलित–विमर्श की एक महत्वपूर्ण गोष्ठी के आरम्भ में कहा गया, ''मानव इतिहास की विडम्बना ही कही जाएगी कि समाज को तोड़ने वाल शक्तियां जोड़ने वाली शक्तियों से ज्यादा प्रभावी रही है। .....इतिहास बोध के सम्पादक लाल बहादुर वर्मा ने कहा जैसे मार्क्स के बाद की दुनिया में कुछ भी मार्क्स को नजर अदांज करके कुछ भी नहीं किया जा सकता है। मार्क्स और अम्बेडकर से कराया जा सकता है, उनसे सहमति–असहमति हो सकती है, पर उन्हें नकारा नहीं जा सकता। इस देश में दोनों ही प्रासंगिक और जरूरी है। मार्क्सवादी यदि दुनिया भर के मेहनतकशों की मुक्ति का विज्ञान और तकनीक है तो अम्बेडकर भारत के दलित मेहनतकशों की सामाजिक मुक्ति का रास्ता बताता है।''[4] वास्तव में मार्क्स के चिन्तन की एक पद्धति है। एक बंधी–बंधाई प्रक्रिया है। एक वैज्ञानिक शोधपरक दृष्टि है। इसलिए वह ऐतिहासिक, भौतिकवाद, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, वर्ग संघर्ष जैसी पद्धति को लेकर चलते है। इसके तहत वह श्रमिकों के शोषण को समाप्त करने का लक्ष्य रखते है और पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त करना चाहते है। आज वास्तविकता यह है कि मार्क्सवादी – समाजवाद उनके पैरों के नीचे से ही खिसकता जा रहा है, जबकि दलित चेतना नारी व पुरूष दोनों में उभर कर सामने आई है।

डॉ. अम्बेडकर की तरह बाबू जगजीवन राम जी अस्पष्यता अथवा दलित समस्या को आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। उसका विश्लेषण इतिहास के आधार पर करते हैं। आप भी अस्पष्यता अथवा छुआछूत की प्रथा का जन्म वर्ण व्यवस्था में देखतें हैं। उनके शब्दों में ''वर्ण–व्यवस्था और उसके परिणामस्वरूप छुआछुत की प्रथा भारत की अनूठी सामाजिक वास्तविकता है। जिसकी जटिलता आसानी से समझ में नहीं आती। वर्ण व्यवस्था की जड़े अतीत के अन्धकार में कहीं छुपी है और इसी कारण समाजशास्त्र के विद्वान इस विषय पर एकमत नहीं है कि जातिभेद की इस अनोखी प्रथा का आरम्भ कैसे हुआ तथा वह किस प्रकार विकसित हुई।''[5]

सुधा अरोड़ा की यह पंक्ति अपने में सम्पूर्ण इतिहास प्रक्रिया की उद्घाटित करती है। अपने में समेटे हैं नारी का कहा अनकहा दर्द ''औरत होने की सजा एक है।'' उनका लेख राजकुमारी डायना पर केन्द्रित है। एक स्थान पर वह लिखती है, ''औरत गरीब हो, मध्य वर्ग की हो या संभ्रान्त घराने की एक सामंती जमींदार पति अपने संबंधों को लेकर सवाल पूछा जाना पसंद नहीं करता। उसने पराई लड़की को एक 'घर' दिया 'पत्नी' का रूतबा दिया 'बच्चे' दिए घर – गष्हस्थी का 'राजपाट' दिया – पति का यह एहसास क्या कम है।''[6] अपने समय का सच अच्छा भी होता है। भाता भी है। प्रभावित भी करता है और अपने समय का यथार्थ कड़वा भी होता है।

जैसे वैदिक युग में हमने माना है कि नारी की स्थिति समाज में अच्छी थी शिक्षित थी। समाज में विदुषी महिला का सम्मान था। स्त्री और पुरूष में भेद नहीं था आदि।

अन्तः यह वर्ण धर्म की काल्पनिक अवधारणा का कभी भी वजूद नहीं था। चलन में नहीं था क्योंकि हजारों जातियां भारतवर्ष में है और एक सवर्ण जाति सैकड़ों उप–जातियां है। फिर जबरदस्ती धर्म का जामा पहनाकर शूद्र वर्ण, अस्पृश्य जाति, अनार्य, हरिजन, दलित आदि का शोषण किया जाता रहा। हजारों वर्षों तक इन्होंने मनुष्य का जीवन ही नहीं जिया है। यातनाएं, उत्पीड़न शोषण और अत्याचार जैसे इनमें जन्म के साथ नत्थी कर दिए गए थे। जन्म तो सभी का समान रूप में होता है। यह समाज है, जो पुरूष व नारी को क्या–क्या बना देता है। पता नहीं भारतवर्ष में कौन सा धर्मशास्त्र नैतिक शास्त्र रचा गया, जिसने मनुष्य और नारी को नारी की तरह जीने को अधिकार नहीं दिया भावी पीढी इस व्यवस्था को कभी भी क्षमा नहीं करेगी। पद्मश्री गिरिराज किशोर के इस वक्तव्य के साथ इस अध्याय को विराम देना चाहूँगी।

संदर्भ ग्रंथ

1. स. तेजवीर सिंह, सेमिनार, नई दिल्ली, नवम्बर, 1998, पृ0 **12.**
2. डॉ. भगवानदास वर्मा, उद्धत, दलित साहित्य और सामाजिक न्याय, पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी, समता प्रकाशन, दिल्ली, 1997 पृ0 **11.**
3. डॉ. पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी, दलित साहित्य और सामाजिक न्याय में उद्धत, पृ0 **5**.
4. स0 लाल बहादुर वर्मा, इतिहास बोध, इतिहास बोध प्रकशन, इलाहाबाद, जून 2003, पृ0 **34.**
5. जगजीवन राम, भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1981, पृ0 **9**.
6. सुध अरोड़ा, आम औरत जिन्दा सवाल, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ0 **94.**